

## प्राकृतिक असन्तुलन के सन्दर्भ में औपनिषदिक चिन्तन की उपादेयता

वाचस्पति मिश्र\*

भारतीय दर्शन में सृष्टि के मूल घटकों को प्रकृति एवं पुरुष के रूप में समझने की चेष्टा दिखलाई पड़ती है। सांख्य दर्शन के पुरुष-प्रकृति सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य भारतीय चिन्तन परम्पराओं में जड़-चेतनात्मक जगत् को प्रकृति एवं पुरुष के रूप में व्याख्यायित किया गया है। पुरुष व प्रकृति क्रमशः चेतन तथा जड़ तत्त्वों का अर्थ देते हैं। प्रकृति इस विश्व का शरीर पक्ष है तथा चेतन पुरुष आत्मपक्ष।

प्रकृति शब्द के दो पार्श्व हैं— अन्तःप्रकृति तथा बाह्य प्रकृति। अन्तः प्रकृति का साक्षात् सम्बन्ध सामान्यतः व्यष्टि से तथा बाह्य प्रकृति का साक्षात् सम्बन्ध समष्टि से है। सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति को त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रजस्, तमस्) माना गया है।<sup>1</sup>

प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों चिन्तन परम्परायें इस विषय में एकमत हैं कि मानव का सार-गुण विवेक है। सत्त्व गुण के प्रकाशक होने के कारण मनुष्य में विवेक के सम्यक् विकासार्थ, सत्त्व गुण का प्राधान्य होना चाहिये।<sup>2</sup> अतः मानवीय प्रकृति की सन्तुलित अवस्था वह है जहाँ व्यक्ति का सत्त्व गुण उसके रजोगुण व तमोगुण का अभिभावकत्व करें। यदि मानव की अन्तःप्रकृति में असन्तुलन पैदा हो जाता है तो सत्त्व के बजाय रजस् या तमस् गुण का प्राधान्य हो जाता है तथा इन्द्रियाँ तीव्र वासना से भरकर विषयों में लिप्त होने लगती हैं तथा व्यक्ति के चरम प्राप्य मोक्ष के मार्ग से उसका भटकाव होने लगता है। अन्तःप्रकृति में ऐसा असन्तुलन हो जाने पर उपनिषदों के मनन, चिन्तन द्वारा सत्त्वोद्रेक करके उसे सन्तुलित किया जा सकता है, ताकि ब्रह्म प्राप्ति विषयक मनोवृत्ति का निर्माण हो सके।<sup>3</sup>

अन्तःप्रकृति के सन्तुलन की स्थापना की दृष्टि से उपनिषदों का महत्त्व अत्यन्त प्रचलित तथा स्थापित रहा है, तथापि बाह्य प्रकृति (पर्यावरण) के असन्तुलन की समस्या के सापेक्ष औपनिषदिक चिन्तन का वैसा प्रयोग नहीं किया गया। वर्तमान समाज में प्राकृतिक असन्तुलन का अर्थ बाह्य प्रकृति (पर्यावरण) में असन्तुलन से लिया जाता है।

प्रकृति (Nature) के विभिन्न घटकों में उनके अवयवों का एक निश्चित अनुपात रहता है। यथा-वायुमण्डल में विभिन्न गैसों का अनुपात या किसी

\*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

पारिस्थिकीय तन्त्र में विभिन्न प्रकार के जीवों की उपस्थिति। विभिन्न अवयवों में यह सन्तुलन स्थैतिक नहीं अपितु गत्यात्मक होता है। इसे विभिन्न चक्रों (यथा जल चक्र, आक्सीजन चक्र, आदि) के द्वारा समझा जा सकता है। मानव औद्योगिक विकास, नगरीकरण तथा परमाणु ऊर्जा आदि के द्वारा लाभान्वित अवश्य हुआ है, किन्तु उसने भविष्य में होने वाले अतिघातक परिणामों की अवहेलना की है, जिस कारण पर्यावरण का सन्तुलन डगमगा गया है। इसे 'ग्लोबल वार्मिंग' तथा 'ओजोन छिद्र' आदि अवधारणाओं द्वारा समझा जा सकता है।

वर्तमान वैश्विक चेतना इन खतरों के प्रति सावधान तो हुई है किन्तु इस सन्दर्भ में किये गये प्रयास उतने कारगर सिद्ध नहीं हो रहे हैं। उदाहरणार्थ क्योटो प्रोटोकॉल (1997) के इतने वर्षों बाद भी भूमण्डलीय तापन में लगातार हो रही वृद्धि इन सतही समाधानों की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगाने हेतु पर्याप्त है। दिसम्बर 2011 में कनाडा द्वारा क्योटो प्रोटोकॉल के त्याग की औपचारिक घोषणा ने इन समाधानों के विरुद्ध एक नई बहस को जन्म दिया है।

मानव सभ्यता के विकास के अध्ययन के फलस्वरूप हम उस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि औद्योगिक क्रान्ति के उद्भव के पूर्व ऐसी पर्यावरणीय असन्तुलन की समस्यायें नहीं थी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद मानव-समष्टि की आवश्यकताओं का स्थान 'लालच' ने ले लिया। आवश्यकता की बजाय 'आर्थिक संवृद्धि' उत्पादन का आधार बन गई। इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी का स्पष्ट कथन है कि— "प्रकृति के भण्डार में हर किसी की जरूरतें पूरा करने को यथेष्ट संसाधन हैं, पर किसी भी लालच को पूरा करने में यह भण्डार असमर्थ है।" अतः यह कहा जा सकता है कि मानव-समष्टि-गत चेतना के लालच ने अन्धाधुन्ध व अनियन्त्रित उत्पादन के द्वारा प्राकृतिक सन्तुलन को भंग कर दिया।

यदि समस्यायें इतनी गहरी हैं तो 'कार्बन ट्रेडिंग' जैसे उथले समाधान कैसे कारगर सिद्ध हो सकते हैं। मात्र तकनीकी विकास द्वारा संसाधनों की बचत सम्बन्धी तर्कों को Rebound Effect की अवधारणा ने खण्डित कर दिया है ऐसी स्थिति में Roegen dh Voluntary Simplicity पर आधारित कम उत्पादन (Dogrowth) की नीतियों की प्रासङ्गिकता महत्त्वपूर्ण हो गई है। फिर भी विभिन्न राष्ट्रों की औद्योगिक विकासार्थक प्रतिस्पर्धा के कारण इन अवधारणाओं को उतना सम्मान नहीं मिल पाया तथा व्यावहारिक धरातल पर उनका उपयोग नहीं किया गया।

समस्याओं की गम्भीरता को देखते हुये यह आवश्यक है कि समाधान भी उसी गहरे तल के खोजे जाय जिस तल की समस्यायें हैं। कहा जाता है कि अन्तःप्रकृति, बाह्य प्रकृति का नियंत्रण करती है। अतः प्राकृतिक असन्तुलन की समस्या के समाधानार्थ हम द्विविध उपायों का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा—

1. अन्तःप्रकृति में सकारात्मक परिवर्तन
2. बाह्य प्रकृति का संरक्षण

आधुनिक समाज में प्राकृतिक असन्तुलन के समाधानार्थ दूसरे उपाय को ही महत्त्व दिया जा रहा है किन्तु प्रथम उपाय की अवहेलना की जा रही है। मानव की अन्तःप्रकृति में परिवर्तन के बिना बाह्य प्रकृति का संरक्षण ऐसा ही उपाय है जैसे बुखार से तपते शरीर को पानी डालकर ठण्डा करने का प्रयास करना। समस्याओं के तल में उतरे बिना ऊपरी समाधानों से यथेष्ट परिणामों की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि हम सतही व अपूर्ण समाधानों से पूर्ण समाधानों की ओर प्रस्थान करें। ऐसी स्थिति में प्राच्य चिन्तन, विशेषतः औपनिषादिक चिन्तन की प्रासङ्गिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

पर्यावरण अनेक छोटे तत्त्वों से लेकर अनेक विशाल तत्त्वों का जटिल समुच्चय है, इसीलिये वेदकालीन मनीषियों ने घुलोक से लेकर व्यक्ति तक की शान्ति की प्रार्थना की।<sup>4</sup>

**ऊँ द्योः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवा शान्तिः ।**

संभवतः पर्यावरण एवं पर्यावरण सन्तुलन की उतनी व्यापक तथा वैज्ञानिक परिभाषा अन्यत्र प्राप्त नहीं है। ईशावास्योपनिषद्<sup>5</sup> में कहा गया है कि जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है अर्थात् उसे भगवदस्वरूप अनुभव करना चाहिये तथा त्याग भावना से उसका उपयोग करना चाहिये। मानव ने प्रकृति को अपनी बपौती समझकर उसका अन्धाधुन्ध दोहन करते हुये जो प्राकृतिक असन्तुलन पैदा किया है, उपर्युक्त विचार उस मनोवृत्ति पर गहरी चोट करते हैं। ईशोपनिषद के मन्त्र छः में कथित अभेदशी व्यक्ति सभी भूतों में आत्मा (या स्वयं) को ही देखता हुआ त्याग पूर्वक उपभोग में सक्षम हो सकता है।<sup>6</sup> वह अपने उपभोग के लिये प्राकृतिक असन्तुलन नहीं पैदा कर सकता क्योंकि वह सभी भूतों में स्वयं को ही देखता है।

कठोपनिषद् में वर्णित है कि मनुष्य खेती की तरह पकता है और खेती की भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है।<sup>7</sup> अर्थात् मानव अनन्त प्रकृति का एक हिस्सा है जैसे खेती आदि अन्य है। इस समदृष्टि के अभाव में मानव स्वयं को प्रकृति के अभिभावक के रूप में समझता है, जिससे वह प्राकृतिक असन्तुलन पैदा करने में संकोच का अनुभव नहीं करता। मानव भी प्रकृति के अन्य घटकों के समान एक घटक है अतः प्रकृति को हानि पहुँचाकर वह अन्ततः स्वयं को ही हानि पहुँचा सकता है, ऐसी भावना के दृढ़ हुये बिना पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान स्थायी नहीं हो सकते।

कठोपनिषद् में ही उल्लिखित है कि 'अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे लगे रहते हैं। वे मृत्यु के सर्वत्र फैले हुये पाश में पड़ते हैं।' यह बात मानव व्यष्टि के लिये भी उतनी ही सत्य है, जितनी मानव समष्टि के लिये। बाह्य भोगों के प्रति अनावश्यक आकर्षण ने सर्वत्र प्राकृतिक असन्तुलन की स्थिति पैदा करके, अम्ल वर्षा, भूमण्डलीय तापन, जल आदि प्रदूषण, बाढ़, भूकम्प, जलवायु परिवर्तन के रूप में सर्वत्र मृत्यु का पाश फैला दिया है।

तैत्तरीयोपनिषद् की प्रथम बल्ली के सप्तम अनुवाक् में पांक्तोपासना के विधान के समय आप, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा को अधिभूत पाङ्क्त कहा गया है।<sup>8</sup> शाङ्करभाष्य में 'पाङ्क्तामकं प्रजापतिमभिसंपद्यते' कहकर पर्यावरण के घटकों की उपासना (संरक्षण) को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति का साधन कहा गया है। सांसारिक भोगों को ही प्राप्तव्य समझने वाली दृष्टि पर्यावरण संरक्षण की ऐसी अवधारणा नहीं दे सकती।

तैत्तरीयोपनिषद् के द्वितीय बल्ली के द्वितीय अनुवाद में "भनाद्वै प्रजाः प्रजापन्ते" कहकर खाद्य श्रृंखला के प्रथम घटक उत्पादक वनस्पतियों को प्रकृति का आधारभूत बताया गया है। अतः प्राकृतिक असन्तुलन को दूर करने के लिये इन वनस्पतियों का संरक्षण तथा संवर्धन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार उपनिषदोक्त जीवन-पद्धति अन्तः तथा बाह्य प्राकृतिक असन्तुलनों को दूर कर व्यक्ति व समाज के सर्वाङ्गीण व दीर्घकालिक विकास को सुनिश्चित कर सकती है।

**सन्दर्भ :-**

1. द्रष्टव्य- अध्याय-2, बल्ली-3, मंत्र 7 व 8
2. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्-सांख्यकारिका
3. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।-कठोपनिषद्-2, 1, 11
4. द्रष्टव्य- शुक्ल यजुर्वेद 36/1711
5. द्रष्टव्य-ईशावास्योपनिषद्-प्रथम मंत्र
6. द्रष्टव्य-ईशावास्योपनिषद्-मंत्र 6
7. द्रष्टव्य-कठोपनिषद्-1, 1, 6
8. आप, ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा इत्यधिभूतम्।- तैत्तरीयोपनिषद् 17

